

भाषा में साध लेना एक अद्भुत साहित्यिक प्रतिभा को दर्शाता है। सच्चाई यह है कि सांभरिया जी की भाषा आलंकारिक है, जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अनुप्रास, वक्रोक्ति और दृश्य अलंकारों की अद्भुत छटा देखते ही बनती है। छोटे-छोटे वाक्य, उसमें साइलेंट शब्द, संरचना के महत्व को बढ़ा देते हैं।

अंग्रेजी के सुगठित वाक्यों की तरह हिंदी वाक्य-प्रयोग, तत्सम तद्भव, देशज, विदेशज शब्दों की मिलावट कहानियों के भाषिक सौंदर्य को उद्दीप्त करते हैं, देशी कहावतों, मुहावरों, सूक्तियों और यदा-कदा ऐतिहासिक पौराणिक मिथकीय शब्द बिम्बों के तड़का से आस्वादन के भिन्न रंग प्राप्त होते हैं। कई ऐसे स्थल उपलब्ध हैं, जिन्हें पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हम कहानी नहीं, गद्य कविता पढ़ रहे हैं। इनमें एक लय है, एक प्रवाह है और कहीं-कहीं तुक भी हैं। वातावरण और परिवेश निर्माण की कला विलक्षण है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस संग्रह की कहानियाँ अपने पाठकों – आलोचकों के मन पर अवश्य ही अपनी गंभीर और विशिष्ट छाप छोड़ने में सफल होंगी।

133/20, मु०-भारती गंज,
पो०-सासाराम-821115,
जिला-रोहतास (बिहार)

मोबाइल – 9135704800, 8507666598

**उद्भावना के
आजीवन सदस्य
बनें
मात्र 3000 रु. में**

अभिव्यक्ति का बहुवचन : देहरी पर दीपक

□ रेणु व्यास

“मेरे पास इतनी कथाएँ हैं, इतने गान हैं, इतने प्राण हैं। इतने सुख हैं, इतनी साधें हैं कि प्राण विभोर हो उठे हैं” (रवीन्द्रनाथ की कविताएँ, अनु.-रामधारी सिंह दिनकर, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2014, पृ.28)

‘प्रभात-संगीत’ में ‘निर्झर का स्वप्न-भंग’ के माध्यम से अभिव्यक्ति को आतुर प्राणों की जिस दुर्दम वेदना को व्यक्त किया गया है, वह रुद्ध धारा कवि के भीतर ही नहीं, भारतवर्ष के भीतर की अभिव्यक्ति की छटपटाहट थी। पश्चिम से आई साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारत समेत एशियाई-अफ्रीकी देशों पर केवल राजनीतिक-आर्थिक प्रभुत्व ही स्थापित नहीं किया था बल्कि उस प्रभुत्व को सुदृढ़ बनाने के लिए औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड भी रचा था। एडवर्ड सईद कहते हैं कि “पूरब करीब-करीब एक योरोपीय आविष्कार था” विडम्बना यह थी कि पूरब के देशों के कई निवासियों ने भी अपने आपको पश्चिम के उस चश्मे से देखा जिस पर साम्राज्यवादी स्वार्थों का रंग चढ़ा था। एडवर्ड सईद के ही शब्दों में “प्राच्यवाद पूरब के ऊपर शासन करने, उसे संरचित करने और उसके ऊपर अधिकार जमाने की पश्चिमी शैली है।” (एडवर्ड डब्ल्यू सईद, वर्चस्व और प्रतिरोध, प्रस्तुति और अनुवाद रामकीर्ति शुक्ल, नयी किताब, दिल्ली, 2015, पृ.38) औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्ति के लिए इस मानसिक गुलामी से छूटना ज़रूरी था। भारतीय नवजागरण सांस्कृतिक औपनिवेशन से मुक्ति का प्रयास था जिसकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति

साहित्य में भी हुई। रवीन्द्रनाथ की कविता में इसी मुक्ति की कामना है-

“अरे मेरे चारों ओर
यह कठिन कारागार क्या है?
तोड़ो, तोड़ो, इस कारा को भंग करो
आघातों पर आघात देते चलो।” (वही, पृ.28)

माधव हाड़ा ने अपनी पुस्तक ‘पचरंग चोला पहर सखी री’ में मीरां के समय और समाज को देखने के लिए इसी दिशा में प्रयास किया है। उनकी अगली पुस्तक ‘देहरी पर दीपक’ भी उनकी इसी दृष्टि का विस्तार है।

पुस्तक का पहला लेख ‘देहरी पर दीपक’ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की भारतीय संस्कृति और परंपरा का कथन है जो भारतीय समाज की सदा से चली आती विविधता से विकसित हुई है। विभिन्न सांस्कृतिक समूहों द्वारा इस देश में एक-दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति एवं सम्मान-भाव परिस्थितियों की माँग भी थी। “विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के सहजीवन के अभ्यास और संस्कार से यहाँ अभिव्यक्ति की ऐसी संस्कृति विकसित हुई है, जिसमें एक-दूसरे की भिन्नता की स्वीकृति, असहमति का सम्मान और असहमति को एक स्वतंत्र विचार और मत में ढलने और विकसित होने की स्वतंत्रता है।” साथ ही हाड़ा यह भी मानते हैं कि “अभिव्यक्ति की यह निरंतर स्वतंत्रता और वैविध्य यहाँ इसलिए है, क्योंकि इस समाज के जीवन और व्यवहार में कुछ हद तक तर्क और युक्ति के लिए जगह हमेशा रही है।”

यह तर्क—युक्ति—प्रधानता भारत की गढ़ी गई छवि से अलग है। भारतीय दर्शनों का भी विकास इस तरह हुआ है जिसमें विचारों की विविधता को स्वीकार किया गया है और अपने मत का पोषण करते हुए भी पूर्व पक्ष के रूप में अपने से भिन्न और विरोधी विचारों को भी जगह दी गई है। 'भारतीय बहुवचन अभिव्यक्ति संस्कृति' को शासकीय संरक्षण के उदाहरण के रूप में हाड़ा अशोक और अकबर को याद करते हैं और मानते हैं कि स्वाधीनता आन्दोलन और भारतीय संविधान ने इसी बहुवचन संस्कृति के लिए प्रतिबद्धता ज़ाहिर की है। "जो महत्त्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है, वही आलोचना के लिए साहित्य की परम्परा का है। ... साहित्य की परम्परा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है।" (शर्मा, रामविलास, परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ.09) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और बहुलता की सांस्कृतिक विशेषता से संबंधित अपनी अवधारणा की पुष्टि युक्तिसंगत रूप से करने के लिए माधव हाड़ा की प्रगतिशीलता भी भारतीय वाङ्मय की समृद्ध परम्परा का सहारा लेती है।

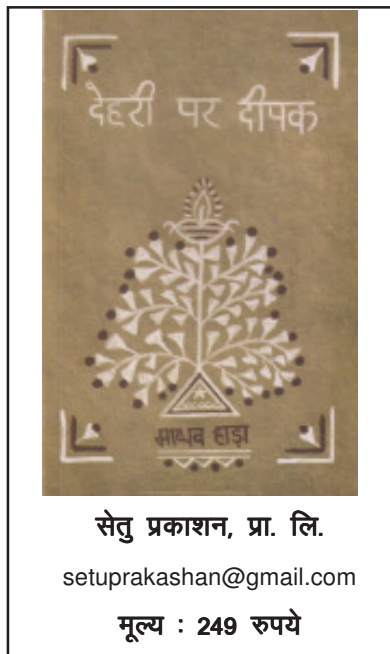
पुस्तक का दूसरा लेख 'भाषा में भाषा' पहले लेख की अवधारणा के ही एक पक्ष का विस्तृत विवेचन है। यह लेख भारतीय भाषाओं की भौगोलिक विविधता के स्वीकार के साथ ही उनके क्षेत्रीय अस्मिता के आधार पर विभाजन और वर्गीकरण के स्थान पर उनमें निरन्तर आते परिवर्तन को रेखांकित करते हुए एवं एक भाषा के दूसरी भाषा में विलयन की अवधारणा प्रस्तुत करता है। "उपनिवेशकाल से पहले तक तो भारत में भाषा के क्षेत्रीय रूपों को पहचान देना का आग्रह लगभग नहीं था।" हाड़ा का यह कथन बहस—तलब हो सकता है क्योंकि 'प्राकृत' और 'अपभ्रंश' के सामान्य नामों के भीतर कई भाषाएँ थीं और

उनकी पहचान 'शौरसेनी', 'मागधी' आदि क्षेत्र—विशिष्ट नामों से की जाती थी, और उसके बाद भी 'मरुभाषा', दक्खिनी आदि क्षेत्र—विशिष्ट नाम हैं।

उद्योतन सूरि की आठवीं सदी की रचना 'कुवलयमाला' के अनुच्छेद 242 में 18 बोलियों का क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ जो सोदाहरण नामोल्लेख है, उन्हें हाड़ा पृथक् अस्तित्व वाली भाषाएँ नहीं मानते— "यहाँ भाषा एक है, लेकिन यह अलग—अलग क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ बोली जा रही हैं। भाषा में क्षेत्रीय वैशिष्ट्य होता है और यहाँ भी सदियों से है, लेकिन इस आधार पर अलग भाषा की पहचान और उसके नामकरण की सजगता यहाँ लगभग नहीं के बराबर थी।" यह तो ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है कि "सामान्यतः जब तक विशेष रूप से जाति (रेस) एवं संस्कृति में अंतर न हो या बड़ा पहाड़ या प्राकृतिक बाधा उपस्थित न करे, तब तक भारतीय भाषाएँ एक—दूसरे में विलीन हो जाती हैं।" परन्तु भाषाओं के विलयन के सिद्धान्त को आत्यन्तिक रूप से मानने से बंगाली और पंजाबी को भी एक भाषा मानना पड़ेगा क्योंकि भाषा में यह परिवर्तन क्रमशः

आया है। भाषाओं को राजनीतिक मानचित्रों की तरह सीमांकित नहीं किया जा सकता परन्तु क्षेत्रीय आधार पर भाषाओं के पृथक् अस्तित्व को ही नकारना हाड़ा का अतिवादी निष्कर्ष है। तेरहवीं सदी के अमीर खुसरो के 'नूह सिपहर' का एक अंश यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक होगा — "चूँकि मैं भारत में पैदा हुआ हूँ, अतः यहाँ भाषा के संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ। इस समय यहाँ प्रत्येक प्रदेश में ऐसी विचित्र एवं स्वतंत्र भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनका एक—दूसरे से संबंध नहीं है। ये हैं — सिंदी (सिंधी), लाहौरी (पंजाबी), कश्मीरी—डूगरी (डोगरी), धुर समुंदर (कन्नड़), तिलंग (तेलुगु), गुजरात (गुजराती), मलाबार (तमिल), गौड (उत्तरी बँगला), बंगाल (दक्षिणी बँगला), अवध (पूर्वी हिंदी), दिल्ली तथा उसके आस—पास की भाषा (पश्चिमी हिंदी)।" (तिवारी, भोलानाथ, अमीर खुसरो और उनका हिंदी काव्य, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2020, पृ.28) खुसरो इन सबको हिंदी (हिंद की) भाषाएँ कहते हैं परन्तु इनमें से अधिकांश पृथक् भाषाएँ हैं, इस तथ्य से कौन इनकार कर सकता है?

'लोक का साँवरा सेठ' लेख राजस्थान—गुजरात में प्रचलित 'नरसीजी रो माहेरो' रचना पर आधारित है। यह आलोचक का संस्मरण है। उसी रोचकता और आत्मीयता से भरा। इस लेख में माधव हाड़ा की भाषा अपने चिर—परिचित बौद्धिक अंदाज़ के विपरीत रंजकता और बिम्बधर्मिता से युक्त है। हाड़ा कहते हैं कि 'नरसीजी रो माहेरो' का कोई एक प्रामाणिक दस्तावेज़ नहीं है — इसका कोई एक लेखक भी नहीं है और यह किसी एक समय भी नहीं रचा गया। इसमें कृष्ण का मानवीय और दुनियादार गृहस्थ का रूप विशेष रूप से द्रष्टव्य है। "कथा का सबसे महत्त्वपूर्ण और अद्भुत अंश वह है, जहाँ कृष्ण अपने दिव्य को ताक में रखकर अच्छे समधी



की तरह समधिन स्त्रियों की गालियाँ सुन रहे हैं, जिसमें स्त्रियाँ प्रथा के अनुसार उनके चरित्र और कुल आदि पर टिप्पणियाँ कर रही हैं। विद्वान् थोड़ी सी छाछ और मक्खन के लिए गोपियों के आगे नाचने वाले कृष्ण पर तो बहुत मुग्ध हुए, मगर उन्हें नहीं पता कि समधिन स्त्रियों की गालियाँ खाने वाला एक दुनियादार कृष्ण भी हमारे लोक ने गढ़ रखा है।" हाड़ा के अनुसार कृष्ण का यह रूप लोक द्वारा अपनी इच्छा और ज़रूरत के अनुसार अपने जैसा मनुष्य भगवान गढ़ने और उसको बराबर मौजते रहने का सबसे जीवंत उदाहरण है।

'मीरां की कविता का पाठ' लेख में हाड़ा मानते हैं कि मीरां की कविता में भाव-वैविध्य की जड़ें मध्यकालीन भक्ति की बहुवचन लोक संस्कृति में हैं। वे प्राचीन हस्तलिखित रूपों की अनुपलब्धता तथा भाव और भाषायी वैविध्य के आधार पर मीरां की रचनाओं को अप्रामाणिक मानने के आग्रह पर पुनर्विचार की आवश्यकता पर बल देते हैं। इस लेख में वे 'भाषा में भाषा' लेख की अपनी मान्यताओं को दोहराते हुए मीरां की रचनाओं के संदर्भ में गुजराती-राजस्थानी-ब्रज भाषा को अलग-अलग इकाइयाँ नहीं मानते। यहाँ तक कि वे उत्तर भारत की तमाम भाषाओं को क्षेत्रीय वैविध्य से युक्त एक ही भाषा मानने के पक्ष में हैं। हाड़ा का यह मानना भी विवादास्पद हो सकता है कि "साहित्य की औपनिवेशिक समझ और संस्कार का ही नतीजा है कि हमें अपने प्राचीन साहित्य से मूल, प्राचीन और हस्तलिखित होने का प्रमाण चाहिए। ...हमारा साहित्य अलग तरह का है- यह दस्तावेज़ी और ठहरा हुआ नहीं है। यह सदियों तक लोक की स्मृति में यात्रा करता है और जीवंत रहता है। इस तरह हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य कमोबेश लोक की स्मृति पर निर्भर है। उसको मूल,

प्राचीन और हस्तलिखित की कसौटी पर कसना बेकार है। मीरां की लोकव्याप्ति मध्यकालीन संत-भक्तों में सबसे अधिक है, इसलिए उसकी रचनाओं में मूल, हस्तलिखित और प्राचीन होने की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।" वे मानते हैं कि लोक की जोड़-बाकी से मीरां की रचनाओं के रूपांतरण के बावजूद वे असल से ज्यादा दूर नहीं हैं। मीरां की रचनाओं के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण में कठिनाइयाँ बहुत अधिक हैं, मात्र भाषायी रूपांतर के आधार पर किसी पद को अप्रामाणिक ठहरा देना ठीक नहीं है और इस प्रक्रिया में मौखिक स्रोतों को भी सम्मिलित किए जाने की भी आवश्यकता है। पर अधिकांश प्राचीन साहित्य के लिए मूल, प्राचीन और हस्तलिखित की कसौटी को औपनिवेशिक समझ घोषित कर उसे आत्यन्तिक रूप से नकारना अवैज्ञानिक है।

'कोकिल कूजत कानन' (सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग का पाठ-पुनःपाठ) लेख में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के सूरदास के मूल्यांकन को अपर्याप्त बताते हुए माधव हाड़ा लिखते हैं कि भ्रमरगीत प्रसंग का महत्त्व विप्रलम्भ-वर्णन और वचन की भाव-प्रेरित वक्रता तक सीमित नहीं है। इस प्रकरण में सूरदास ने निर्गुण उपासना की आलोचना कर दृढ़तापूर्वक मानवीय और पार्थिव का समर्थन किया और उससे भी आगे जाकर अपार्थिव और लोकोत्तर की खिल्ली उड़ाई है। सूरदास के जन्मांध और गृहत्यागी-संत-भक्त की छवि का सतर्क खंडन करते हुए हाड़ा मानते हैं कि ऐंद्रिक और पार्थिव का जैसा आग्रह और समर्थन सूरदास के काव्य में है उससे लगता है कि उन्हें लौकिक जीवन का व्यापक और गहरा अनुभव था।

'अतिव्याप्ति में अलक्ष्य' लेख में माधव हाड़ा भक्ति आंदोलन की बहुभाषिक और वैविध्ययुक्त प्रकृति को रेखांकित करते हुए इसे एक ऐसे सामाजिक-

सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में देखते हैं जिसमें लोकोत्तर के साथ ही पार्थिव चिंताओं की भी सघन उपस्थिति थी।

'एक भव-अनेक नाम' लेख मुनि जिनविजय के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित है। 'हिन्दी में कथेतर' लेख में प्रमुख कथेतर विधाओं के सैद्धान्तिक विवेचन की गंभीर कोशिश है जिसमें हाड़ा विधाओं की धुंधली सीमा-रेखाओं और उनमें अन्तर्क्रिया को भी रेखांकित करते हैं। 'मोहभंग का रूपक' गिरीश कर्नाड के नाटक 'तुगलक' के हिन्दी अनुवाद की विस्तृत सांगोपांग समीक्षा है। 'आत्मसंघर्ष और असफलता' लेख मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' का विस्तृत विवेचन है। 'सौ साल बाद छायावाद' इस पुस्तक का अंतिम लेकिन महत्त्वपूर्ण आलेख है। हाड़ा छायावाद की उपलब्धियों और सीमाओं को रेखांकित करते हुए इसे 'आधुनिक हिंदी कविता का पहला और कुछ हद तक अंतिम आंदोलन' मानते हैं।

'देहरी पर दीपक' पूरी पुस्तक की भंगिमा भारतीय भाषाओं और साहित्य से संबंधित औपनिवेशिक समझ से लोहा लेने की है और इसका कथ्य भारतीय साहित्य, समाज और संस्कृति के वैचारिक वैविध्य को रेखांकित करते हुए भारत की लोकोत्तर औपनिवेशिक छवि के बरअक्स पार्थिव लौकिक स्वरूप को केन्द्र में रखता है। विचार-जगत में बद्धमूल धारणाओं के खंडन के प्रयास में कहीं-कहीं सरलीकृत निष्कर्ष भी इस पुस्तक में हैं, वैकल्पिक समझ के निर्माण की प्रक्रिया में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। माधव हाड़ा की यह पुस्तक परिश्रम से किए शोध का उदाहरण है।

एफ-1, ए-85-बी, शिव शक्ति नगर,
मॉडल टाउन, जगतपुरा रोड,
जयपुर पिन-302017
मो.-9413887224,